शोध पत्र-संस्कृत

वैदिक साहित्य में राष्ट्र दर्शन

* डॉ. एस. एस. गौतम ** डी. पी. अहिरवार

* प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष, शासकीय स्नातकोत्तर (स्वशासी) महाविद्यालय, दतिया (म.प्र.)
** सहायक प्राध्यापक (संस्कृत) शासकीय स्नातकोत्तर (स्वशासी) महाविद्यालय, दतिया (म.प्र.)

January,2013

mÙkjk ;r leæL; fgekæ'pso nf{k.kke
o"kZ rn Hkkjr uke Hkkjrh r= lUrfrAA ¼fo".k ijk.k½
xk;fUr nsok fdy xhfrdkfu /kU;kLr r Hkkjr HkfeHkkxA
Loxkioxkin gr Hkr] HkofUr Hk;% i#"kk lqjRokrAA
¼cgh½

वैदिक साहित्य विश्व साहित्य का आदि साहित्य है। ज्ञान विज्ञान का प्रादुर्भाव वैदिक साहित्य में हुआ, ऋग्वेद मानव सभ्यता के विकास का प्रथम लिखित दस्तावेज माना जाता है। मानवीय संस्कृत की चार प्रमुख प्रवृत्तिया धर्म, अर्थ काम और मोक्ष हैं। इनके प्रवर्तन के लिए समाज में समुचित वातावरण की व्यवस्था होना आवश्यक है। इस दिशा में समाज का संघटन करने का उत्तर दायित्व राजा तथा उच्च कोटि के विचारकों एवं आचार्यों पर रहा है। विचारक और आचार्य समाज की सुदृढ़ व्यवस्था के लिए योजनायें बनाते आये हैं और राजा उन योजनाओं को कार्य रूप में परिणित कराने के लिए सूत्रधार रहा है। समाज संघटन की योजना के अन्तर्गत राजा और प्रजा का जो सम्बन्ध स्थापित होता है वह राजनीतिक जीवन का प्रथम रूप है।

राजत्व की प्रतिष्ठा ऋग्वैदिक काल में भली भाँति हो चुकी थी। उस युग में वरूण और इन्द्र सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित थे। इन दोनों चरित में तत्कालीन राजकर्म की रूप रेखा का परिचय प्राप्त है। सम्राट वरूण के आदर्श पर प्रजा का कल्याण के लिए प्रयत्न करना, पापियों और अपराधियों को क्षमा करना, लोगों को विपत्तियों से बचाना, नेतृत्व करना, दूर तक देखना, शासन विधान की प्रतिष्ठा करना, मानवों का अभ्युदय करना, अपने शासन में सबको सौभाग्यशाली बनाना, प्रजा के जीवन से तादात्मक सम्बन्ध स्थापित करना, पापियों को दण्ड देना, प्रजा के शत्रुओं को दूर भगाना, चोरों से प्रजा की रक्षा करना ऋत की प्रतिष्ठा करना आदि राजकर्म की परिधि में आते थे।

jktk vkj mldk o;fäRo %

भारतीय राजनीति शास्त्र के अनुसार राज्य के सप्त अंग या प्रवृत्तियाँ होती है– राजा, अमात्य, जनपद, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा निम्न सातों अंगों में राजा प्रधान है। साधारणतः राजा के व्यक्तिव के अनुसार शेष छः अंगों का स्वरूप बन जाता है।

प्राचीन काल के राजा के समक्ष वैदिक काल से इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का आदर्श प्रतिष्ठित था। इन्द्र पर लोक कल्याण के लिए राजा को उच्चकोटि का पराक्रमी तथा विजेता तथा लोगों की पापमयी प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करने के लिए वरुण के आदर्श पर अपने राष्ट्र के प्रत्येक भाग में होने बाले कामों से भिज्ञ होना चाहिए। राजर्षि तसदस्यु की वैदिक प्रार्थना से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद–काल में राजा अपने व्यतिव में इन्द्र और वरुण आदि देवताओं को अन्तर्हित मानते थे। उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक होता था कि उसकी परिधि में Hk% Hkks% vkj Lo% का अर्न्तभाव होता था। वे सारे जगत् के प्रेरक थे और उनकी धारणा थी कि हम द्यावा पृथिवी को धारण करते है। वह राजा स्वयं युद्धस्थल का सेनानी बल से सम्पन्न होते थे। वे अतिशय कर्मण्य थे, क्योंकि उनमें देव बल था। राजा के अभिषेक के समय पुरोहित कहता था– मैं आपको सोम, अग्नि, सूर्य और इन्द्र की तेजस्विता से समायुक्त करता हूँ। हे देवो! तुम इस राजा को महान साम्राज्य के लिए अद्वितीय शासक बनाओ। राजा के अभिषेक के अवसर पर उसकी योग्यता के अनुकूल उसे उग्र, मितवर्धन, वृष, व्याघ्र, सिंह आदि उपाधियाँ प्रदान की जाती थी। वह श्रोत सम्पन्न होता था और अपनी प्रतिभा से चमकते हुए विचरण करता था। राजा सर्वप्रिय होता था। राजा का इन्द्र से सहयोग होता था। राजा अतिशय यशस्वी होता था। तत्कालीन राजा के उदात चरित्र का प्रमाण अथर्ववेद में प्राप्त होता है।

cãp;.k rilk jktk jk"Vª fo j{kfr 11-5-1711
(ब्रह्मचर्य और तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है)

eU=h e.My ,oa 'kklu 0;oLFkk %

वैदिक काल में सभा और समिति नायक दो संस्थायें राजनीतिक जीवन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। उस समय प्रायः प्रत्येक गाँव या नगर के प्रमुख और स्त्रियाँ सार्वजनिक सभा भवन में एकत्र होकर सामाजिक और राजनीतिक महत्त्व के विषयों पर अपना मत प्रकट करते थे। सभा का रूप वर्तमान ग्राम पंचायत के समान प्रतीत होता है। सभाओं का निर्णय राजा को निर्देश देने के लिए होता था। कभी–कभी राजा भी सभा का सदस्य होता था। उच्च कोटि की सभाओं के सभासद स्वभावतः ऐश्वर्यशाली और उदार व्यक्तिव के पुरूष होते थे। विवादग्रस्त विषयों पर सर्व सम्मति से राजा का निर्णय भी अपेक्षित था।

वैदिक शासन तंत्र का प्रधान उद्देश्य Þ_rÞ की प्रतिष्ठा करना था। राजा धृतव्रत होकर प्रजा के बीच रहकर उन पर शासन करता था। 'ऋत' के अनुसार प्रजा का एक दूसरे से सद्व्यवहार होना चाहिए था। धोखा–धड़ी आदि मानव की कुवृत्तियों का उन्मूलन किया जाता था। प्रजा के व्यवहार का ज्ञान राजा को दूतों से मिलता था। वेद कालीन भारत का

आरम्भिक संयोजन जन से होता था। तत्कालीन आर्य जनता जनों में विभक्त थी। ऐसे जनों के नाम पुरु, तुवर्श, यदु, अनु, द्रह्यु, भरत, मत्स्य, क्रिवि, तुत्सु, गन्धार, उशीनर आदि मिलते हैं। जन के अन्तर्गत विश और विश के अन्तर्गत ग्राम होते थे। प्रत्येक ग्राम में अनेक कुटुम्ब होते थे। ग्राम, विश और जन में से प्रत्येक के अध्यक्ष होते थे। ग्राम के अध्यक्ष का नाम ग्रामणी था। यह पद किसी न किसी रूप में आज तक चला आ रहा है। आधुनिक मुखिया वैदिक काल के ग्रामणी ग्राम सेना का नायक होता था। ग्राम की सुरक्षा और अभ्युदय के लिए वह प्रयत्नशील रहता था। शासन प्रबन्ध में राजा के पुरोहित की भूमिका मुख्य होती थी। राजाओं के पास सेना होती थी। सेना का उपयोग विजय करने में होता था। साथ ही प्रजा के बीच शान्ति की व्यवस्था के लिए सैनिक नियुक्त होते थे। प्रजा पर आने वाली आपदा में सेना सहायता के लिए प्रस्तुत हो जाती थी। दावपा नामक कर्मचारी राजा को वन की आग का समाचार देने के लिए नियुक्त थे।

jktdh; vk; %

वैदिक काल में राजाओं ने कृषि, पशुपालन के साथ–साथ उद्योग धन्धों को आय स्रोत में अपनाया। आय के इन साधनों में गायों, घोड़ों तथा अन्य पशुओं की अभिवृद्धि के लिए अध्यक्ष नियुक्त होते थे। ऋग्वेद काल में 'बलि' रूप में प्रजा से आय होती थी। तत्कालीन साहित्य में प्रजा की एक उपाधि बलिदूत मिलती है। समग्र वैदिक युग तथा परवर्ती सूत्र, स्मृति, रामायण एवं पुराण काल में प्रजा से बलि पाने का प्रचलन मिलता है। ऋग्वेद के अनुसार बलि सम्भवतः सर्वसाधारण से ली जाती थी। आधुनिक आयकर की तरह समृद्धशाली लोगों से राजा को विशेष धन मिलता था। इसी बात को दृष्टि में रखते हुए वेद में कहा गया है कि– "धनी लोगों को राजा उसी तरह खाता था जैसे अग्नि वन को।" वेद कालीन राजकीय रत्नी–मण्डल में संग्रहीत और 'भागधुक्' नामक पदाधिकारी होते थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर राजा के द्वारा गाँवों के अश्वों और गायों में से भाग लेने की कामना की गई है। 'संग्रहीता' सभी प्रकार की आय का संग्रह करने वाला अधिकारी होता था।

अथर्ववेद में राजा को सिंह का प्रतीक मानकर उसे सभी विशों का अद् कहा गया है। इस प्रकरण में विश् का अर्थ प्रजा या अर्थोत्पादक समाज कुछ भी ले, तात्पर्य यही निकलता है कि प्रजा से मनमाना धन संग्रह करने की रीति कहीं न कहीं अवश्य ही थी। अन्यत्र भी राजा को विशामत्ता उपाधि दी गई है। वेदकालीन राजाओं को पर राष्ट्रों की विजय करने पर शत्रु राजा का सर्वस्व अपहरण कर लेने के अवसर प्राप्त हुआ करते थे। इस प्रकार पशु–समूह और दास–दासी प्रायः मिल जाते थे। इनके अतिरिक्त पराजित राजाओं से श्वण्डनी के नाम पर धन लिया जाता था।

fonsk uhfr %

भारतीय राजाओं की वैदेशिक नीति की दो परिधियाँ रही हैं आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक परिधि के अन्तर्गत भारत की सीमा के भीतर के राज्य तथा बाह्य परिधि के अन्तर्गत भारत की सीमा के बाहर के राज्य आते हैं। सुदूर प्राचीन काल से इन दोनों परिधियों का समन्वय वैदेशिक नीति में रहा है। विदेश नीति का संकेत व्यापार से प्राप्त होता है जो भारत के बाहर विदेशों में व्यापारियों को सर्वत्र मिला करती थी। आज से लगभग 5000 वर्ष पहले भारत का व्यापारिक सम्बन्ध समेर, असोरिया, काल्डिया, मिश्र, ईरान, अफगानिस्तान, पामरिप्रदेश, पूर्वी पाकिस्तान, तिब्बत, वर्मा आदि प्रदेशों से था। उसी युग में सिन्धु प्रदेश का भारत अन्य भागों– कठियावाड़, राजस्थान, दक्षिण भारत, काश्मीर आदि क्षेत्रों से सम्बन्ध था व्यापार के माध्यम पर आधारित इस वैदेशिक नीति की रूपरेखा का इससे स्पष्ट रूप प्राप्त नहीं होता।

भारतीय राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा का एक माध्यम दिग्विजय रही है। वैदिक काल से लेकर सदा ही यदि कोई भारतीय राजा चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता था तो वह अपनी सेनाओं के साथ समग्र भारत का परिभ्रमण करते हुए राजाओं से युद्ध करता था या विनीत राजाओं को कर ग्रहण कर छोड़ देता था। वैदेशिक नीति में दूत व्यवस्था का विशेष महत्त्व था। कौटिल्य के अनुसार योग्यतानुसार तीन प्रकार के दूत होते थे। निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासन हर। दूत परराष्ट्र में गौरवास्पद बनकर अपने राजा का सन्देश लेकर रहते थे और वहा राजा से उत्तर–प्रत्युत्तर आदि कहने सुनने के अधिकारी होते थे। वह पर राष्ट्र के सभी अधिकारियों से मेल–जोल बढ़ाता था और वहाँ के युद्ध स्थान, युद्ध प्रतिग्रह तथा अपसारभूमि की तुलना अपने राज्य की क्रमशः इन्हीं वस्तुओं से करता था। वह दुर्ग और राष्ट्र की लम्बाई–चौड़ाई बहुमूल्य वस्तुओं, रखने के स्थान तथा उपक्रम करने योग्य स्थानों की परख कर लेता था। परराष्ट्र के राजा की आज्ञा लेकर दूत उसकी राजधानी में प्रवेश करता था और अपने राजा का सन्देश सुना देता था, चाहे उसे सुनाने में जान ही जोखिम में क्यों न डालना पड़े। यदि सन्देश सुनकर राजा असन्तुष्ट हो तो उसे अपने दैत्य पथ की विकट पद्धति का परिचय देकर स्वयं अवध्य बन जाने की युक्ति अपनानी चाहिए।

lSU; 0;oLFkk %

वैदिक कालीन सैन्य व्यवस्था सुदृढ़ थी। देव सेना का सेना पति स्वयं इन्द्र था। आर्य सेना का नेता राजा होता था। सेना में राज्य के सभी सशक्त लोग सम्मिलित हो सकते थे। पुरोहित सेना को उत्साहित करने का काम करता था। राजा और सामन्त रथों पर सवार होकर युद्ध करते थे। सेना के चार अंगों का उल्लेख प्राप्त होता है रथों, अश्वारोही, गजारोही एवं पैदल। युद्ध का मुख्य अस्त्र बाण था। इसके अतिरिक्त आयुधऋष्टि, अंकुष, परशु, कृपाण और वज्र भी युद्ध के अस्त्र–शस्त्रों में शामिल थे। ऋग्वेद कालीन सेना में सहस्त्रों वीरों के होने का उल्लेख मिलता है। इन्द्र ने एक बार साठ सहस्त्र सैनिकों की सेना का उन्मूलन किया था। इन्द्र का मुख्य आयुध वज्र था जो सम्भवतः आग्नेय अस्त्र था। शतध्नी वज्र के समान थी जो सम्भवतः एक बार में सौ सैनिकों का संहार कर सकती थी। युद्ध विज्ञान का वैदिक काल में अभ्युदय हो रहा था। जिन स्थानों पर शत्रुओं के जाने की सम्भावना होती थी वहाँ जाल और पारा लगा दिया जाता

था जिसमें शत्रु बँध जाये मायावी लोगों के साथ मायात्मक युद्ध होते थे। युद्ध कौशल का नाम आकूत था। देवासुर संग्राम के अतिरिक्त आर्यों और दासों के युद्ध वैदिक काल में हुए। इन युद्धों में प्रायः आर्य दासों के विरूद्ध लड़ते थे। पर कुछेक युद्ध ऐसे भी हुए जिनमें आर्य स्पष्ट लड़े। युद्ध की विभीशिका दासमयी थी। शत्रु का प्राण ले लेना, उसके सिर का चूर्ण बना देना, अंगों को उच्छिन्न करना आदि व्यक्तिगत हानियाँ थी इससे भी भयंकर था शत्रु के नगर को नष्ट कर देना। इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है–जिस प्रकार अग्नि सूखे वन को जलाता है वैसे ही भयंकर अशनि राक्षसों को जलाती है। युद्ध कई दिनों तक लगातार चलता रहता था। एक वीर सहस्त्रों सैनिकों से युद्ध करता था और अन्त में उनको जीवित नहीं छोड़ता था। बढ़ई जिस प्रकार लकड़ी छेदता है वैसे ही शत्रुओं के शरीर विदीर्ण किये जाते थे। आर्येतर जातियों की स्त्री सेना भी होती थी।

U;k; 0;oLFkk %

भारतीय न्याय व्यवस्था का परिचय वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक युग में सर्वोच्च न्याय व्यवस्था थी न्यायधीश के रूप में वरुण प्रतिष्ठित है। वरुण दूरदर्शी है। उनकी सहस्त्र आँखें है। वे अपने प्रसाद में बैठे हुए सभी कर्मों का पर्यालोचन करते है। वरुण सर्वत्र देखते हैं। चाहे कितनी ही रहस्य क्यों न हो? वे मानक के सत् और असत् की परख रखते है। तत्कालीन समाज में विविध प्रकार के अपराधों के लिए दण्ड व्यवस्था थी और साथ ही लोगों के परस्पर विवाद उपस्थित होने पर न्यायधीश से न्याय प्राप्त करने की रीति प्रचलित रही। इन विधानों का स्वल्प मात्र परिचय ही तत्कालीन साहित्य से प्राप्त होता है। वैदिक काल में राजा के अतिरिक्त सभी का न्याय करती थी। सम्भव है सभा के द्वारा नियुक्त उपसमिति न्याय विभाग का काम विशेष रूप से करती है। गाँवों में ग्राम्यवादी न्याय करते थे। न्याय के लिए भूमि, खेल में धोखा– धड़ी, ऋण उगाहना, उत्तराधिकार, चोरी, आक्रमण और हत्या विषय आते थे। जुए में दोषी होने पर दास बनने का दण्ड भोगना पड़ता है।

वैदिक काल में न्याय प्रक्रिया सरल थी। साक्षियों का महत्त्व कम था। शपथ लेकर अपने को निर्दोष सिद्ध करने की रीति थी। कभी–कभी नागरिक भी अपराधी को अपनी ओर से सजा देते थे। ऋण देने वाला ऋणी का द्रुपद नाम के खम्भे से बाँधकर उसे अथवा उसके सम्बन्धियों को शीघ्र ऋण चुकाने के लिए बंधाक बनाया जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार लोग हाथ पकड़कर चोर को न्यायधीश के समीप लाते थे और कहते थे कि इसने चोरी की है। झटपट अग्नि का दहकाकर परशु को तपाया जाता था और अभियोगी को उसे हाथ में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था नहीं जलने पर उसे छोड़ दिया जाता था।

वैदिक कालीन न्याय व्यवस्था कठोर कहीं जा सकती है। कौटुम्बिक परिधि से लेकर राजकीय परिधि तक सर्वत्र कठोर दण्ड का विधान था। तैतरीय संहिता में विविध अपराधों के लिए अलग–अलग दण्डों का विधान मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अग्नि परीक्षा आदि दिव्य उपायों से अपराधियों का परीक्षण होता था। वैदिक कालीन न्यायधीश का नाम प्रश्न विवाद मिलता है। सम्भवतः सूत्र युगीन प्राद्विवाक् इसी के समकक्ष बना है। इन संस्थाओं से प्रकट होता है कि न्याय व्यवस्था स्वतंत्र रूप से विकसित हो चली थी।

oKkfud fodkl %

मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये–नये आविष्कारों एवं शोधों का आरम्भ वैदिक काल में हो चुका था। इस युग में विज्ञान ने हर क्षेत्र में प्रवेश कर लिया था। समाज में कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से ज्योतिष के क्षेत्र में सर्वप्रथम चिन्तन प्रारम्भ हुआ।

¼1½ T;kfr"k % ज्योतिष के क्षेत्र में सर्वप्रथम नक्षत्र विज्ञान की खोज हुई और नक्षत्र की गतिविधियों का अध्यापन किया जाने लगा। तत्कालीन ज्योतिष का नाम u{k=n'k था। ज्योतिष का उपयोग यज्ञ एवं कृषि कार्य में होता था। ज्योतिष के क्षेत्र में बराहमिहिर की महती भूमिका है उन्होंने पंचसिद्धान्तिका, वृहत्संहिता, वृहज्जातक और लघुजातक जैसे प्रमाणिक ग्रन्थों की रचना की। वराहमिहिर का सूर्यसिद्धान्त ज्योतिष के क्षेत्र में अमर रचना है।

¼2½ xf.kr % आर्यभट्ट का गणित क्षेत्र में अतुलनीय योगदान रहा। उन्होंने ज्योतिष के अतिरिक्त अंकगणित, रेखागणित, बीजगणित आदि विषयों में जो कार्य किया उससे परवर्ती गणित की प्रगति पर विशेष प्रभाव पड़ा। आर्यभट्ट ने आर्यभट्टीय के चार पाद–गीतिका, गणित, काल–क्रिया और गोल है। भारतीय अंक गणना का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है जिसके अनुसार 1 से 10 तक की क्रमिक गणना के पश्चात 11 का एकादश रूप में प्रतिष्ठित है। उस समय सृष्टिः सहस (60,000) की गणना कल्पनीय थी। अयुत शब्द 10,000 के लिए प्रयुक्त होता था। यजुर्वेद में 4 का पहाड़ा 12 तक गिनाया गया हैं इस वेद में संख्या की परार्ध तक गणना की कल्पना का उल्लेख है। यह सर्वोच्च संख्या दस सौ और सहस्त्र के गुणनक्रम से अयुत, नियुत, अवुर्द, न्युवर्द और परार्ध होती है। अंक गणित के साथ ही बीजगणित, पाटीगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति का उपयोग वैदिक काल में प्रचलित था।

¼3½ vk;qoZn % भारतीय विज्ञानों में आयुर्वेद का अप्रतिम महत्त्व रहा है वेदकालीन आयुर्वेद भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, खनिज विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान आदि का समावेष था। आयुर्वेद के क्षेत्र में चरकसंहिता, ऋषि चरक का प्रमाणिक एवं प्रौढ़ ग्रन्थ है। वैदिक काल में अश्विनी कुमारों को आयुर्वेद के विशेषज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्त है। सुश्रुत की सुश्रुतसंहिता एवं चरक संहिता का अध्ययन एवं अध्यापन आज भी किया जा रहा है।

¼4½ Hkkfrd foKku % वेदों में भौतिक विज्ञान का विकास प्रचुर मात्रा में देखने को मिलता है। ऊर्जा से सम्बन्धित अग्नि, सूर्य के सैकड़ों मनु वेदों में उल्लिखित है। यजुर्वेद में ऊर्जा को अविनाशी एवं अमर बताया गया है। ऊर्जा के रूपान्तरण सम्बन्धी मन्त्र वेदों में मिलते है। ऊर्जा सर्व व्यापक है, अग्नि में सम्प्रेषण शक्ति है, अग्नि में विद्युत तरंगे हैं, जल के मंथन से

अग्नि का आविष्कार अथर्वा ऋषि का है। इसके साथ–साथ वृक्ष से अग्नि और भू–गर्भीय अग्नि की खोज भी अथर्वा ऋषि ने की थी। सूर्य की किरणों के साथ रंग का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ। प्रकाश की गति का मापन भी ऋग्वेद में उल्लिखित है–

rFkkp Le; r&;ktukuk lgL=s}s] }s 'krs nosp ;ktuA
,dus fufe"kk/kku Øeek.k uek·Lr rsA
_Xon & 1-50-4

सूर्य की आकर्षण शक्ति, पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण, द्रव्य और ऊर्जा का रूपान्तरण, ज्वारभाटा आदि अनेकानेक विषयों का वर्णन वेदों में हुआ है।

¼5½ jlk;u 'kkL= % वेदों में रसायन विज्ञान से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण सूक्त मिलते है जिनमें जल की उत्पत्ति, मित्र वरुण वृष्टिकर्ता, जल का विराट रूप, जल से सृष्टि की उत्पत्ति, सूर्य में उच्च जल तत्त्व, रसायन विज्ञान की शाखाएँ, सूर्यकान्त मणि से अग्नि आदि।

¼6½ ouLifr foKku % ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में वृक्ष वनस्पतियों की उपयोगिता के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वृक्ष मानव मात्र को प्राण वायु देते हैं इसलिए वे मानव के रक्षक, पोषक और माता–पिता है।

¼7½ tUrq foKku % चारों वेदों में जीव जगत से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसमें जीवों के नाम, उनका वर्गीकरण, उनके गुणकर्म और उनकी उपयोगिता आदि का विवरण प्राप्त होता है। पशुपालन, पशुसंरक्षण, पशुसम्बर्धन, पशु चिकित्सा आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

वैदिक काल में शिल्प विज्ञान, कृषि विज्ञान, खगोल विज्ञान, वृष्टि विज्ञान एवं पर्यावरण विज्ञान का पर्याप्त विकास हो चुका था।

fu"d"kZ %

वैदिक साहित्य के अनुसंधान से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है, कि विश्व मानव समाज से सम्बन्धित सभी तत्त्वों, संस्थाओं, वैज्ञानिक अनुसंधानों, औद्योगिक युगतियों, सरकार संचालन की पद्धतियों, मानव व्यवहार की रीतियों, प्रकृति के रहस्यों, मानव मात्र के श्रेय एवं प्रेय की सभी पद्धितियों का अंकुरण वैदिक काल में हो चुका था, जो सतत् रूप से पल्वित एवं पुष्पित होता चला आ रहा है।

संदर्भ ग्रंथ

(1) ऋग्वेद 1.25, 2.1, 1.17.1, (2) वही 5.85.31, (3) वही 5–85, 7–8, (4) वही– 1–25, 25–51, (5) वही– 1.25, 25.101 (6) वही– 1–25.15, (7) वही 2.28.21, (8) वही– 2–28–61, (9) वही 2.28.71, (10) वही– 2.28.101, (11) वही– 8–6, (12) ऋग्वेद 4.42, (13) बाजसनेयि सं. 9.40 तथा 25, 17, 18 (14) अथर्ववेद 4.8.4.22 एवं 6.39 (15) ऋग्वेद 10.191, (16) ऋग्वेद 7.6.51, (17) तै.ब्रा. 2.7.18.3, (18) ऐतरेव ब्रा. 35.3, (19) ऋग्वेद 5.1.10, (20) ऋग्वेद 10.173.6, (21) ऋग्वेद 1.65.4, (22) अथर्ववेद 4.22.2, (23) अथर्ववेद 1.16, (24) ऋग्वेद 1.8.2, 6.2.2, 6.26.5–6, (25) तैतरिय सं. 5.7.6, (26) अथर्ववेद 6.67.1, 6.103.81, (27) ऋग्वेद 1.11.71, (28) अथर्व. 11.9.1.13, (29) ऋग्वेद 7. 83.1.6.33.3 तथा 4.30.18, (30) ऋग्वेद 6.35.2, 1.6.38, 5.30.4, 6.17.3, 6.26.2, 5.29.11, 6.22.81, 6.18.81, 6.19.7, 6.18.10, 6.26.4, 7.83.21 (31) ऋग्वेद 10.71.1, (32) तैतरी सं. 3.13, (33) काठक सं. 11.4, (34) मैत्रायणी सं. 2.2.1, (35) ऋग्वेद 10.34, वही 7.104.15, (36) छन्दोग्य उ. 6.16 ।